

लोकतांत्रिक समाज की मूल समस्या, नियंत्रण का विस्तार एवं प्रभावी नियंत्रण

सारांश

वर्तमान लोकतांत्रिक समाज में जो भी नवीन जटिलताएं यथा-धर्म और संप्रदायवाद, नक्सलवाद, आतंकवाद, घोर विषमता तथा विपन्नता दिखाई दे रही है। उन सब के मूल में नियंत्रण की प्रभावशीलता की न्यूनता ही है। लोकतांत्रिक समाज का प्रादुर्भाव राजतंत्र की कमियों तथा सत्ता में अधिकाधिक जनभागीदारी की आकांक्षाओं के प्रतिफल स्वरूप हुआ है। परंतु इस हेतु नवनिर्मित सामाजिक संरचना एवं जन आकांक्षाओं को पूरा करने में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर सकी है। इसका मुख्य कारण परिवर्तन की गति के अनुरूप नियंत्रणकारी अभिकरणों, यंत्रों तथा प्रक्रियाओं में परिवर्तन तथा परिवर्धन की न्यूनता ही है। जब हम नियंत्रण के क्षेत्र तथा प्रक्रिया में किसी खास तरह का विस्तार एवं संकुचन उत्पन्न करते हैं तो एक विशिष्ट तरह का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक संगठन निर्मित होता है। जिसका अपना एक विशिष्ट विचार, दर्शन, आकार होता है, विशिष्ट प्रक्रिया होती है।

मुख्य शब्द : नियंत्रण का विस्तार, नियंत्रण की प्रक्रिया, सामाजिक संरचना, पद सोपान क्रम, अधिसत्ता शक्ति।



संतोष कुमार राय

असिस्टेंट प्रोफेसर,
वाणिज्य विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
मुसाफिरखाना, अमेठी

प्रस्तावना

किसी भी व्यवस्था की निरंतरता तथा कुशलता हेतु आवश्यक है कि संगठन तथा प्रबंधन की विभिन्न प्रक्रियाओं का समुचित उपयोग हो। नियंत्रण वह आधारभूत तत्व है जो संगठन संरचना को बनाए रखने तथा उनके दीर्घजीवी होने की गारंटी सुनिश्चित करता है। नियंत्रण ही वह घटक है जो आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक में, संकुचन तथा विस्तार की प्रक्रियाओं में विभिन्न संगठनों, समाजों का निर्माण तथा विनाश किया है। सभ्यता के प्रारंभ में पशुओं पर नियंत्रण की मात्रा और तरीके ने सभ्यता को विकसित किया। प्रकृति पर नियंत्रण, उसके साथ कदम ताल की प्रक्रिया पर नियंत्रण ने मानव सभ्यता के विकास के नए आयाम दिए हैं। फलस्वरूप मानव समाज संगठन, पशु समाज संगठन से अलग और अधिक परिष्कृत हो पाया है। जहां पशु समाज केवल भोजन, निवास स्थल एवं लैंगिक आवश्यकताओं हेतु नियंत्रण तथा संघर्ष में जीवन बिताता है, वही मानव समाज इनको आधारभूत आवश्यकता, अवश्य मानता है तथापि आज के परिवेश में वह इनके लिए संघर्षरत कम ही है। आज वह अधिकाधिक वैचारिक नियंत्रण एवं संघर्ष में रत है। धर्म, संप्रदाय, दर्शन, विभिन्न वैचारिक वाद यथा प्रत्यक्षवाद, प्रायोगिकवाद, आतंकवाद, मार्क्सवादी, पूंजीवादी, गांधीवादी, वामपंथ, दक्षिणपंथ स्वतंत्रता वादी, विस्तार वादी, अनेकता वादी, एकतावादी, आतंकवादी, राष्ट्रवादी विचारधारा आधारित संघर्ष के पीछे नियंत्रण का विस्तार तथा संकुचन ही है। जब हम नियंत्रण के क्षेत्र तथा प्रक्रिया में किसी खास तरह का विस्तार तथा संकुचन द्वारा विन्यास करते हैं। तो एक विशिष्ट तरह का सामाजिक, आर्थिक, राज नैतिक, धार्मिक संगठन निर्मित होते हैं। जिसका अपना एक विशिष्ट विचार, दर्शन होता है, आकार होता है, विशिष्ट प्रक्रिया होती है, जिससे उन्हें, अन्य संगठनों से अलग पहचाना तथा जाना जा सकता है।

पशु या आदिम समाज को देखें तो नियंत्रण तथा उसका विस्तार बड़ा सरल तथा प्रत्यक्ष था। किस का किस पर नियंत्रण है तथा कितना नियंत्रण है प्रत्यक्षतः देखा तथा समझा जा सकता था। प्रत्यक्ष संबंध, विशेषकर भौतिक संबंध तथा भौतिक शक्ति ही नियंत्रण के आवश्यक यंत्र थे। लेकिन आधुनिक समाज में प्रत्यक्ष संबंधनहीं होने पर भी हमने ऐसे यंत्र और नियंत्रण की तकनीक विकसित की है कि हम नियंत्रण रखते हुए देखे जा सकते हैं। कारागार मंत्री द्वारा कारागार में बंद अपराधी पर नियंत्रण, अभिकरणों के परिवर्धन तथा विकास की

आर इंगित करता है। इस प्रकार कालांतर में नियंत्रण के विस्तार तथा संकुचन की प्रक्रिया के फलस्वरूप संगठन के विविध रूप समाज में पनपते चले गए। विविधता बार-बार परिवर्तित होती रही। फलस्वरूप कई एक नवीन संगठन प्रतिस्पर्धी तो थे ही कालांतर में एक दूसरे के प्रतिरोधी भी बन पड़े। आज जैसे लगता है कि पुरातन राजनीतिक संगठन यथा राजतंत्र या तानाशाही लोकतंत्र का शतप्रतिशत प्रतिरोधी हैं। जबकि लोक शाही का विकास भी राजशाही में नियंत्रण के फैलाव की विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा ही हुआ है। इस प्रकार नियोजन संगठन तथा नियंत्रण की आधारभूत प्रक्रिया में नियंत्रण का तत्व वह कुंजी है जिससे संगठन अपने संरचना में विस्तार तथा संगठन की गतिविधियों द्वारा संगठन अपने को परिस्थितियों के प्रति उत्तर में परिवर्तित, परिवर्धित करता रहता है।

वस्तुतः कई एक बार विकास के क्रम में संगठन की उपतंत्र अपने मूल तंत्र के विरोधी बन पड़े हैं। जैसे लोकतंत्र में बहुसंख्यकवाद भी (नियंत्रण का एक नया तरीका) जो सब को स्वीकार है, के आधार पर विकसित हुआ है। तो अत्यधिक दबाव को कम करने के लिए अल्पसंख्यकवाद ने विविध रूपों में नियंत्रण को वश में करना चाहा है। जैसे संप्रदायवाद, धर्मवाद, आतंकवाद लेकिन दोनों ही की सफलता तथा विफलता नियंत्रण की कुशलता में ही सुनिश्चित है। यदि हम बहुसंख्यको की बात पर अधिक जोर ना दें तो यह संभव है कि अल्पमत हितधारी सदस्य आतंकवाद की जगह किसी और नए तरीके का संगठन दीक्षित करें – प्रतिस्पर्धी तथा प्रतियोगी संगठन। इस प्रकार प्रत्यक्ष नियंत्रण से आधुनिक अप्रत्यक्ष नियंत्रण तक आने में हमारे मानव संगठन के विविध क्षेत्रों में विभिन्न अभिकरणों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं अभिकरणों के संचालन में हमारा समाज जीता-जागता तथा निर्मित होता रहा है। अभिकरणों की नियंत्रणकारी भूमिका के प्रभाव से ही हमारे सामाजिक जीवन में अनुकूलता, सहनशीलता, समन्वयता, प्रतियोगिता, प्रतिद्वंद्विता, प्रतिकार, संघर्ष, संगठन एवं विघटन की प्रक्रिया का प्रादुर्भाव होता है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य लोकतांत्रिक समाज में संघर्ष तथा परिवर्तन के विभिन्न स्वरूप एवं उससे उत्पन्न जटिलताओं के संदर्भ में प्रबंध की नियंत्रण प्रक्रिया की उपादेयता का विवेचन करना है।

शोध समस्या

हम वर्तमान संदर्भ में विवेचना करें तो देख पाते हैं कि सभ्यता के अनुभव ने हमें क्या सिखाया है? संघर्ष एवं परिवर्तन क्यों होते हैं और कैसे इनको नियंत्रित किया जाए पर विद्वत्जन एकमत नहीं है। किसी ने विचारों पर नियंत्रण एवं परिवर्तन को कारक माना तो किसी ने आर्थिक संरचना तथा प्रौद्योगिकी को संघर्ष तथा परिवर्तन का कारण माना। कुछ ने तो धर्म के मूल में ही संघर्ष और परिवर्तन का कारण खोजने का प्रयास किया। प्रत्यक्षवाद, उपयोगितावाद, से लेकर आधुनिक प्रकाशवादियों तक ने विविध प्रयास द्वारा परिवर्तन तथा संघर्ष के कारणों और प्रभाव पर प्रकाश डालने का एकांगी प्रयास किया है।

लेकिन कुछ ऐसे तत्व लगता है छूट से गए हैं, जो इन विवेचनाओं, सिद्धांतों से पकड़ में नहीं आ सके। जिसके कारण से ये सिद्धांत लोकतांत्रिक समाज में परिवर्तन की भविष्यवाणियां करने या पहचानने में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर सके हैं। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य इन्हीं घटकों को चिन्हित करते हुए नवनिर्मित नियंत्रणकारी संस्थाओं में नियंत्रण की प्रभावशीलता का विवेचन करना है।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का है जिसमें आवश्यक समंको तथा सिद्धांतों के लिए द्वितीयक स्रोतों को माध्यम बनाया गया है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में नियंत्रण

लोकतांत्रिक व्यवस्था राजनीतिक प्रशासनका आधुनिक स्वरूप है। यह आदिम समाज के पशुवत नियंत्रण शक्तियों से परिष्कृत होकर, विभिन्न चरणों में होते हुए आज इस स्वरूप को प्राप्त किया है। जहां प्राचीन काल में शक्ति ही कबीले पर नियंत्रण का एकमात्र आधार था, वहीं विकसित व्यवस्था में नियंत्रण के अन्य आधारों पर नियंत्रण की प्रक्रिया आधिकाधिक निर्भर हुई है। यद्यपि शक्ति आधारित नियंत्रण की महत्ता आज भी बनी हुई है, तथापि शक्ति के खुद के आधारों में भी व्यापक परिवर्तन आ गया है, जिसे नियंत्रण के पुराने मॉडल तथा विचार वर्तमान संदर्भ में निष्फल हो रहे हैं।

देखा जाए तो शक्ति मूलतः तीन तत्वों से निर्मित होती है या शक्ति के तीन आधार होते हैं। प्रथम भौतिक शक्ति, द्वितीय पद आधारित अधि सत्ता और तृतीय ज्ञान शक्ति। भौतिक शक्ति से तात्पर्य जीव मात्र के लिए उसकी दैहिक बनावट मजबूती सुंदरता प्रकृति से तादात्म्यस्थापित करने वाले उसके प्राकृतिक अंग हैं, जिससे वह अपने ही समूह के अन्य जीवों पर वर्चस्व पाने का जानने में समर्थ हो जाता है, तथा अन्य विषम समूहों पर भी अपने इसी भौतिक शारीरिक शक्ति के बल पर नियंत्रण स्थापित कर पाता है। उदाहरणार्थ शेर जो अधिक शक्तिशाली होता है जंगल के अन्य जीव समूह पर वर्चस्व कायम कर पाता है। भौतिक शक्ति इसका अच्छा उदाहरण है। इसके अतिरिक्त अपने समूह में संघर्ष की स्थिति होने पर भी वह इन्हीं भौतिक शक्तियों का प्रयोग करके कुल मुखिया का निर्धारण करता है।

निश्चित ही भौतिक शक्ति सभी समाजों में शक्ति का शाश्वत और आधारभूत स्रोत रही है। जब तक यह आधार ही शक्ति का एकमात्र स्रोत बना रहा तब तक इसके ऊपर आधारित हमारा नियंत्रण व्यवस्था भी एक विशेष प्रकार एवं स्वरूप वाली बनी रही। प्रत्यक्ष नियंत्रण में दंड, हिंसा का व्यापकता था और दया, स्वतंत्रता की गुंजाइश ना के बराबर थी। अतः समस्त जीव, पशु-पछि, मानव एवं पशु समाज में अंतर करना बहुत मुश्किल था। लेकिन जैसे-जैसे मानव ने अपने कपाल का प्रयोग कर ज्ञान का संचय एवं संवर्धन करना शुरू किया, वैसे-वैसे शक्ति का आधार शारीरिक बल से खिसकता हुआ छितराता हुआ अपने आयाम में परिवर्तन करने लगा। अब शक्ति का आधार दो हो गए। भौतिक तथा ज्ञान आधारित शक्ति। ज्ञान किसी तथ्य को जान लेने की क्षमता बुद्धिमत्ता

तथा तर्क शक्ति का पर्याय है। जिससे इस तथ्य पर हमारा अनुक्रिया तर्कसंगत, व्यवस्थित और अधिकाधिक फलदाई हो सके।

इस प्रकार जैसे-जैसे मानव मस्तिष्क ने विकास के क्रम में अपने ज्ञान पुंज का परिवर्धन किया, शक्ति आधारछितरा सा गया। अब शारीरिक शक्ति के साथ ज्ञान शक्ति का मिश्रण अनुपात आधारित नियंत्रण व्यवस्था कायम हुई। फलस्वरूप शक्ति आधारित शेर के नियंत्रण से मुक्त होकर मानव समाज का निर्माण हुआ। मानव समाज का शक्ति आधार यद्यपि शारीरिक रूप में पशु समाज से कम है तथापि ज्ञान आधारित शक्ति आधार के मिश्रण ने इन को अधिकाधिक शक्तिशाली बना दिया। जिससे नई नियंत्रण व्यवस्था का उत्पन्न होना शाश्वत सत्य था। फलतः मानव समाज की उत्पत्ति हुई। संघर्षरत जीव कालांतर में दो समूहों में बट गये। एक पशु समाज तो दूसरा मानव समाज। तब संघर्ष तथा नियंत्रण की प्रक्रिया में विभिन्न यंत्रों का प्रादुर्भाव हुआ। यथा आग, हथियार, घर, प्रौद्योगिकी इत्यादि। इस संघर्ष को यद्यपि न्यूनाधिक रूप में आज भी देखा जा सकता है। जैसे जब जंगली जानवर रिहायशी क्षेत्र में आ जाते हैं, तथापि कालांतर में पशु जगत ने व्यापक रूप में मानव अधीनता स्वीकार कर ली। अब संघर्ष तथा प्रतियोगिता की शुरुआत मानव समाज में ही होनी थी। संघर्ष तथा प्रतियोगिता, भौतिक शक्ति की विद्यमानता वाले समूहों में भी सर्वदा विद्यमान रही है, लेकिन वहां नियंत्रण भौतिक शक्ति के कमजोर पढ़ते ही जाता रहता है। जैसे शेर के बूढ़ा होते ही उसका नियंत्रण अपने समूह पर नहीं रह पाता।

इस आंशिक संघर्ष की शाश्वत प्रक्रिया ने उस प्रारंभिक मानव समाज में जो की भौतिक तथा ज्ञान शक्ति के मिश्रण द्वारा निर्मित, नई-नई नियंत्रण स्वरूपों से उन्मुख हो रहा था, पद प्रस्थिति का निर्माण किया। मानव ने परिवार तथा समूह में रहते हुए नियंत्रण की व्यवस्था में पद तथा प्रस्थिति का निर्माण किया और इन मान्यता प्राप्त पदों में सोपान क्रम व्यवस्था का जन्म हुआ। शक्ति आधार को, जो भौतिक शारीरिक शक्ति तथा ज्ञान आधारित मिश्रण था, में से काट और छंटकर इन्हें नव सृजित सोपान क्रम में व्यवस्थित पदों में सन्निहित किया गया। उच्च क्रम के पदों को अधिकाधिक शक्ति सौंपी गई जबकि निम्न पदों पर अपेक्षाकृत कम शक्ति का हस्तांतरण हुआ।

इस प्रकार शक्ति आधार को नियंत्रण व्यवस्था हेतु विकसित संगठन के पद अनुक्रम में सम्मिलित किया गया। ध्यान रहे कि यह शक्ति शत प्रति शत पदों में सन्निहित है, उस पर बैठे व्यक्ति में नहीं। इस प्रकार शक्ति आधार का फैलाव व्यक्ति से संगठन पदों की ओर उन्मुख हुआ जिसका नाम अधि सत्ता है। जो पद धारण करने वाले सभी मानव में चाहे वह भौतिक रूप से कैसा भी हो समान पदों पर समान शक्ति के उपभोग का अवसर प्रदान करता है।

अधिसत्ता आधारित शक्ति आधार आधुनिक विश्व का द्योतक है। आज व्यक्ति इसलिए अधिक शक्तिशाली नहीं माना जाता कि वह शारीरिक रूप से अधिक बलशाली है, इसलिए भी नहीं कि वह अधिक ज्ञानी है,

अपितु इसलिए माना जाता है कि इन दोनों आधारों का प्रयोग करके वह अधिसत्ता आधार का कितना उपभोग करता है तथा सामाजिक प्रस्थिति के किस सोपान पर पहुंच पाता है। उदाहरणार्थ किसी पहलवान को साधारण सा पुलिस सिपाही जेल में डाल सकता है। समान पद प्रस्थिति का उपयोग करने पर भी प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह एवं नरेंद्र मोदी के अधि सत्ता शक्ति पर नियंत्रण में विभिन्नता समझी जा सकती है। इस प्रकार शक्ति जो नियंत्रण का मूल है, के आंतरिक आधारों में भौतिक से ज्ञान एवं अधि सत्ता तक के बदलावों ने जीव जगत में असंख्य परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। इन परिवर्तनों के प्रति उत्तर में नवीन नियंत्रण तकनीकों के विकास का, इतिहास गवाह रहा है। कबीले से सामंतवादी शासन तक, राजशाही से लोकशाही तक का विकास इन का द्योतक है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में नियंत्रण की संरचना की बात करें तो निम्न तत्व सहभागी दिखाई देते हैं। विधायिका, न्यायपालिका, कार्य पालिका, जन संचार माध्यम। उपरोक्त चारों मिलकर ही वास्तविक लोकतांत्रिक सामाजिक संरचना को व्यवहारिक बना सकते हैं। यह व्यवस्था चार पदों वाले जानवर के समान है जो अपने चारों पदों का प्रयोग करके बिना लड़खड़ाए आगे बढ़ता जाता है। राज्य तंत्र की खामियों के कारण लोकतंत्र का जन्म हुआ। भारत के संदर्भ में ही देखा जाए तो 70 साल पुराना आधुनिक लोकतांत्रिक प्रणाली अपने उद्देश्यिका में व्यक्त मूल्यों से कितना विस्थापित हो गई है, कहने की आवश्यकता नहीं है। नीति निदेशक तत्व तथा मूल कर्तव्यों से सुसज्जित हमारा संवैधानिक लोक शाही तमाम अंतर विरोधों का पुलिंदा सा दिखने लगा है। नियंत्रण के चतुष्पदी यंत्र एक दूसरे से समन्वय में नहीं अपितु टकराने में ही रत है। जनतंत्र में तंत्र इतना मजबूत एवं विरोधाभासी बन पड़ा जान पड़ता है की, जन का गला कसता सा प्रतीत हो रहा है। आज तमाम सफलताओं के बावजूद समाज में घोर विषमता एवं विलगाव का उपस्थित होना लोकतंत्र के कमियों को इंगित करता है। क्या, क्यों, कैसे, लोकतंत्र इन कमियों को दूर करें या अपने में सुधार लाए इसकी विवेचना समीचीन है।

विधायिका

लोकतंत्र में अधि सत्ता आधारित पदों पर दो तरह के लोग काबिल होते हैं। प्रथम चुने गए तथा दूसरा चयनित। चुने गए लोग जिनको जनता अपने मताधिकार द्वारा चुनती है नेता के रूप में जाने तथा माने जाते हैं। यही वह लोग होते हैं जिनको जनता के लिए विधि का निर्माण करना होता है। कुछ देशों में विशेषतया भारत में यही कार्य पालिका प्रमुख भी होते हैं। देखा जाए तो इन लोगों से मिलकर बनी संसद संप्रभु होती है। सिद्धांततः इन लोगों को संसद में पारित कानून को जनोपयोगी तथा जन आकांक्षाओं के अनुरूप बनाने की जिम्मेदारी होती है।

भारत ने 70 वर्षों में इस संसदीय प्रणाली का जिसमें प्रत्यक्ष बहुमत निर्वाचन पद्धति अपनाई गई है का खूब उपयोग किया है। इसके प्रयोग से कई बार सत्ता के शिखर पर शांतिपूर्वक परिवर्तन हुआ है। लेकिन धीरे-धीरे

इस व्यवस्था ने एक खेल का रूप ले लिया है। अब परिवर्तन के खेल में कुछ विशिष्ट जनसमूह ही बार-बार चुने जाने लगे हैं। जनता तो अब उन्हें सांप नाथ, नाग नाथ मानने लगी है। जन आकांक्षाएं हतोत्साहित हो चुकी हैं। सत्ता शीर्ष में परिवर्तन का वास्तविक प्रभाव जनता पर नगड्य ही रहता है। इस प्रकार विधायिका में परिवर्तन हेतु जनता को राजशाही से काट तथा छोटकर के बांटे तथा दिये गए अधिकार निष्प्रभावी सिद्ध हो रहे हैं तो क्यों? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

नियंत्रण की अधि सत्ता शक्ति का फेलाव लोकतांत्रिक संरचना में उचित रूप से हुआ है कि नहीं, यदि नहीं तो कहां कितनी मात्रा में और काट छांट की जरूरत है, इसकी पड़ताल ही इस क्यों का जवाब दे पाएगा ऐसा मेरा मत है। जहां तक मतदाताओं को प्रदत्त शक्तियों की बात करें तो वर्तमान में इनको सामान वयस्क मताधिकार के अतिरिक्त सूचना पाने और आम तौर पर 5 साल के लिए अपने मत का दान करने के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं है। मतदाता 5 वर्ष में एकांकी प्रयोग वाला वीरघातिनी हथियार रूपी मतदान का प्रयोग करता है। फिर 5 वर्ष चुपचाप बैठ कर तमाशा देखता है। दूसरे मतदाता पर मतदान में भाग लेने का कोई बाध्यता ही नहीं है। वह चाहे तो अपने मताधिकार का प्रयोग करें अथवा ना करें। तमाम विषमताओं से भरा देश होने के कारण व्यवहार में देखा गया है कि कुल रजिस्टर्ड मतदाताओं का मात्र 60 से 70 % मत ही पोल हो पाता है और उसने विजयी मतदाता का वोट प्रतिशत तो उतना भी नहीं हो पाता जितना कि उस क्षेत्र की जनता ने मतदान में भाग ही नहीं लिया। इस तरह मतदाता की मतदान करने या न करने की स्वतंत्रता ने नियंत्रण के इस विस्तार को निष्प्रभावी बना दिया है।

जब कुलीन या राजतंत्र के अधिकारों को काट छांट कर आम-जन में निरूपित कर दिया गया तो उनके पीछे उद्देश्य यही था कि समस्त जनता जनार्दन का मत ही वास्तविक तथा सही एवं उचित शासक का चुनाव कर सकेगा। अब ऐसी भावना तब अव्यावहारिक होती है जब अधिसंख्य मतदाता इस प्रक्रिया में भाग ही न ले या इसके प्रति विभिन्न कारणों से निरुत्साहित हो। तब हमें मताधिकार को अनिवार्य बनाने या अन्य विकल्पों पर विचार करना ही होगा जिससे शत-प्रतिशत मतदान का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। बिना इसके वास्तविक जन भावना का पता लगाना बहुत मुश्किल है।

मतदाता जिन कारणों से अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं करता, उनमें प्रमुख है मतदाता सूचियों में खामियां, मतदेय स्थल से उनका दूर होना, मतदान की महत्ता का ज्ञान ना होना, अधिकारों के प्रयोग से वांछित परिणाम प्राप्त होने में संदेह होना प्रमुख कारण है। सदियों से गुलामी प्रथा के सामाजिक मकड़ जाल में उलझा हमारा भारतीय समाज गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा और धार्मिक कारणों से अपने मूल स्थानों से दूर रहता है। ऐसे में चुनाव के दिन मतदेय स्थल पर जाकर चुनाव प्रक्रिया में भाग लेने की बात की कठिनाइयों को समझा जा सकता है। आज इंटरनेट के द्वारा दूर बैठे लाखों-करोड़ों के धन का नियंत्रण हम आसानी से कर पा रहे हैं, लेकिन

क्या कारण है कि हम मतदान को ऑनलाइन नहीं कर सकते। अगर ऑनलाइन परीक्षा दी जा सकती है तो ऑनलाइन मतदान भी होना ही चाहिए, तभी अपने रोजी रोजगार हेतु माइग्रेट हुआ आम जनमानस अधिकाधिक मात्रा में मतदान प्रक्रिया में भागीदार बन पायेगा।

जहां तक मतदान की महत्ता के ज्ञान की बात है बहुत कम लोग ही अब इस से अछूते हैं। धीरे-धीरे 70 वर्षों में हमारा देश मतदान की महत्ता को पहचान गया है। यह कहना बेईमानी होगी कि भारतीय मतदाता मतदान के अधिकारों को जानता पहचानता नहीं है। विगत वर्षों में केंद्र तथा राज्य स्तर पर आरोपी सरकारों को सत्ता रहित करने में कई बार वह सफल हुआ है। विगत कुछ वर्षों में राजनीतिक प्रणाली से उत्पन्न घोर निराशा ने अपेक्षित परिणाम की प्राप्ति के प्रति संदेह के भावना का विकास मतदाताओं में किया है। फलस्वरूप ऐसे मतदाता जो अधिक विवेकी तथा संसाधनों से युक्त हैं मतदान प्रक्रिया में अरुचि दिखाते हैं। अभिप्रेरणा की प्रत्याशा को जगाना है तो मतदान से उत्पन्न राजनीतिक नेतृत्व का वास्तविक प्रतिनिधित्व होना ही चाहिए, अन्यथा चुने हुए तथा चुनने-वालों में बहुत असमानता, प्रतिनिधित्व होने के स्वांग का ही द्योतक है। रही बात मताधिकार को अनिवार्य बनाने की तो कुछ देशों में इसे अपनाया गया है। हमें भी इस ओर उन्मुख होना पड़ेगा।

मताधिकार द्वारा 5 वर्षों के लिए प्रतिनिधि चुनने के ही अधिकार मतदाताओं को प्राप्त होना भी समीचीन नहीं लगता। आज गतिशीलता बढी है। जो काम पहले वर्षों में होता था अब घंटों में होने लगा है। 5 वर्षों तक राजा चुनने के अधिकार में आधारभूत खामी दिखाई देती है। हमें इस तरह मतदाता के अधिकारों के रिसाव को रोकना होगा। हमें मतदाता और जन प्रतिनिधि के बीच संबंधों को भी संहिता बद्ध करना होगा। मतदाता और जन प्रतिनिधि भी संविदा के प्रावधानों से बंधे हो। या ऐसी कोई और प्रणाली जिससे जन प्रतिनिधि को अपने मताधिकार क्षेत्र की जनता का वास्तविक प्रतिनिधि बनाए रखने में सक्षम हो सके। हमें संसद सदस्यों की सदन के आचरण का नियंत्रण, क्षेत्र की जनता के हाथों में देने की प्रविधि विकसित करनी होगी की वह किन मुद्दों पर पक्ष या विपक्ष में राय देगा। निश्चित ही यह प्रणाली अधिक खर्चीली तथा श्रमसाध्य होगी। लेकिन इसके ना अपनाने से उत्पन्न कर-रिसाव अधिक नुकसानदेह तथा घातक हो रहा है।

जन प्रतिनिधियों की स्वेच्छाचारिता पर आवधिक नियंत्रण मतदाताओं के पास होने ही चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था का परिणाम होगा कि संसद सदस्यों को अयोग्य घोषित करने के लोकसभा अध्यक्ष अथवा चुनाव आयोग के अधिकारों में से कुछ शक्तियां क्षेत्र की मतदाताओं को बांट दी जाए। यदि जनता का ऐसा मत हो तो अपने जन प्रतिनिधि को वापस बुला सकती है। मैं पुनः इस बात पर जोर देकर कहता हूँ कि, ऐसी वापसी के प्रस्ताव पर सामान्य बहुमत से फैसला होना चाहिए। ठीक उसी तरह से जैसे समान मतदान प्रणाली में होता है। कुल मतदाताओं की संख्या का 10% द्वारा यदि अपेक्षा की जाए तो इस तरह के वापस बुलाने वाले निर्वाचन का

आयोजन वार्षिक तौर पर होते रहना चाहिए। वास्तव में लोकतंत्र 5 वर्षीय वसंतोत्सव नहीं है। इसे तो हर पल हर क्षण राष्ट्र-राज्य की जीवन में रचा बसा होना चाहिए। तभी यह वास्तविक व्यवहारिक तथा जन आकांक्षाओं के अनुरूप बन पड़ेगा। जन प्रतिनिधि कैसा हो, वास्तविक प्रतिनिधित्व कैसे संभव हो इस पर भी मनन की आवश्यकता है। शक्तियों की उच्च अधि सत्ता से निम्न अधि सत्ता की ओर फेंक देने से व्यवस्था बनती नहीं बिगड़ती भी है।

हमें विचार करना होगा कि सिद्धांत रूप में जनता द्वारा जनता के लिए शासन को कैसे संभव बनाया जाए। जबकि जनता खुद में एक व्यापक शब्द है। इसमें उस विशाल मानव समूहों का दर्शन होता है जिसमें विभिन्नता, विशिष्टता तथा अनेकता रची बसी रहती है। जनता कोई एक रूप मानव समाज नहीं होती। वह तो विविध रूप, विविध समूहों, विभिन्न प्रजातियों, विविध धर्म, विविध संप्रदाय, विविध विचारधाराओं के आधार पर बटी तथा कटी रहती है। हां कुछ साझा हित, मूल्य तथा संस्कृति ही इस अनेकता में एकता के सूत्र बनाते हैं। जिससे राष्ट्र-राज्य निर्मित तथा फलित होता है। तथापि एकता अपवाद स्वरूप परिस्थितियों में ही दिखाई देता है। यथा युद्ध, विभीषिका, आक्रमण इत्यादि के समय। सामान्य दैनिक जीवन में तो केवल विविधता ही विविधता परलक्षित होती है।

अतः जनता को एक रूप मानकर उसमें से प्रतिनिधि चुनने में संस्थागत त्रुटि है। कुछ सुधार अनुसूचित जातियों जनजातियों के सदस्यों के लिए आरक्षित स्थान देकर जरूर करने का प्रयास किया गया। लेकिन इसने तो और कोढ़ में खाज का काम किया है। हमें समस्त मतदाताओं को उप वर्गों में विभाजित करना होगा। विभिन्न आधारों पर। आधार ऐसे हैं जो उस समूह के साथ-साथ पूरे जनमानस में व्याप्त हो। ना कि केवल विशेष समूह में ही। हां उपलब्धता की मात्रा में विभिन्नता हो सकती है और यही विभिन्नता उपवर्ग बनाने का आधार भी देगी। जैसे 250000 रुपए के आय वर्ग 250000 से 500000 आय वर्ग 500000 से 10 लाख आय वर्ग और ऐसे ही। फिर इन वर्गों की जनसंख्या का आकलन होना चाहिए। आखिर जब करो को चुकाने के लिए ऐसा वर्गीकरण हो सकता है तो मतदान अधिकार की न्याय संगत विभाजन के लिए ऐसे उप वर्ग का निर्माण क्यों नहीं होना चाहिए। फिर इन वर्गों की जनसंख्या का आकलन होना चाहिए फिर समस्त मताधिकार को जनसंख्या आधार पर इन वर्गों में विभाजित कर देना चाहिए। तत्पश्चात इन वर्गों में से ही इनके जन प्रतिनिधि पृथक निर्वाचन पद्धति द्वारा चुने जाने चाहिए। हमें लगता है यह एक तरीका हो सकता है अपने समूह की वास्तविक प्रतिनिधित्व को तय करने का। इस प्रकार प्राप्त नेता विधायिका के गौरव को निश्चित ही जन आकांक्षाओं के अनुरूप मूर्त रूप दे पायेगा। अन्यथा संसदीय प्रतिनिधियों के सदन के अंदर जूतमपैजार बार-बार देखते रहने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए।

राजनीतिक दल

नियंत्रण संरचना में मतदाताओं को प्रदत्त मताधिकार की शक्ति को संगठित समन्वित तथा नियोजित दिशा देने का कार्य राजनीतिक दलों का है। यद्यपि संविधान में दलीय पद्धति पर कुछ भी नहीं कहा गया है तथा इसके नियमन का भार चुनाव आयोग को सौंप दिया गया है। फिर भी हम पाते हैं कि संसदीय लोकतंत्र में तमाम कानून दल पद्धति पर आधारित है। जैसे दल बदल विरोधी अधिनियम, विपक्ष के नेता का पद। उपयोगिता तथा व्यवहार्यता के आधार पर बहु दलीय पद्धति को अपनाया जाना, नवीन राष्ट्र में लोक शाही को पल्लवित पुष्पित करने के लिए जरूरी था। परंतु आज हमें लोकतंत्र के सिद्धांत रूप में और व्यवहार रूप में आए अंतर में दलीय व्यवस्था के योगदान की समीक्षा करना ही होगा। यहां उच्च स्तर से अधिकार का फैलाव सामान्य जनता में इसलिए किया गया है कि सामान्य जन अपने आकांक्षाओं के अनुरूप संसद या विधायक चुन सके तथा वह जन प्रतिनिधि अपने क्षेत्र की जन आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व विधायिका में कर सके। तो सोच तो यही रही होगी कि राजा से जनता, जनता से संसद सदस्य, कैबिनेट या राजा के बीच किसी तीसरे पक्ष का हस्तक्षेप ना हो। अधि सत्ता अधिकारों के बंटवारे तथा नियंत्रण की इस कड़ी में यदि कोई तीसरा मध्यस्थ बनता भी है तो सहयोग मात्र के लिए ना की इस कड़ी को ही ढक देने के लिए। किसी भी तरह इस कड़ी के बने रहने तथा अधिकाधिक रेखीय होने में ही लोकतंत्र की सफलता है।

किंतु क्या ऐसा है? बिल्कुल नहीं। जनता तथा राजा के चुनाव के बीच तीसरा तत्व आ चुका है। वह इस कड़ी को भारी मात्रा में परिवर्तित कर रहा है। उसने लोकतंत्र में नियंत्रण प्रक्रिया को गैर संवैधानिक बना दिया है। लोकतांत्रिक आधारों को अधिनायक वादी बना दिया है और तो और चुने गए प्रतिनिधि दलीय व्यवस्था के गुलाम से नजर आते हैं। राजनीतिक दल को लोकतंत्र का प्रहारी होना चाहिए था। लेकिन उसने तो जन तथा जनप्रतिनिधि के बीच दलाल का रूप ले लिया है। और आगे सोचे तो दलीय व्यवस्था संगठित दलालों का पर्याय हो गया है। जो लोकतंत्र के आधार स्तंभ के ऊपर अपना नियंत्रण कायम काम कर लिया है और लोकतंत्र में गैर लोकतांत्रिक व्यवस्था का द्योतक, संरक्षक तथा प्रवर्तक बन बैठा है। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर कैसे।

संविधान ने संसद सदस्य चुनने का उत्तरदायित्व जनता पर डाला है। फिर यह सदस्य प्रधानमंत्री का चुनाव करते हैं और वह देश की कार्य पालिका का प्रधान होता है। वह पूरे देश का प्रधानमंत्री होता है ना की किसी दल विशेष का। जैसे लोकसभा अध्यक्ष या राष्ट्रपति होता है। जरा विचार करें तो पाते हैं कि पहले राजनीतिक दल ही चुनते हैं कि प्रत्याशी कौन होगा। और इन घोषित प्रत्याशियों में से ही जनता को अपना प्रतिनिधि चुनना होता है और चुने गए प्रतिनिधि दल से बने होते हैं। पार्टी के विरोध पर उनकी सदस्यता जा सकती है। दल बदल विरोधी अधिनियम इसका साक्ष्य है।

क्या हमारे संविधान में दल चुनने की अनुमति दी थी? क्या दल तथा प्रतिनिधि दोनों साथ-साथ चुनने

की बात उठी थी? नहीं बस सदस्य चुनने की बात थी। चाहे वह दल में हो या ना हो। तो दल बदल की बात कहां से उठी और चुने सदस्य अपने क्षेत्र की जनता के प्रति उत्तरदाई होना चाहिए ना कि अपने दल के। इस बहु-दलीय हाईकमान की व्यवस्था ने लोकतंत्र में गैर लोकतांत्रिक प्रणाली का निवेश किया है। फलतः परिवारवाद तथा भ्रष्टाचार लोकतंत्र में प्रविष्ट कर गया है। आज ग्राम प्रधान जिला परिषद का सदस्य अधिक स्वतंत्र है, अपेक्षाकृत एक संसद सदस्य या राज्यसभा सदस्य के। संविधान निर्माताओं ने कभी भी यह नहीं सोचा होगा कि जनता का प्रतिनिधि एक राजनीतिक दास होगा जो दिखता तो स्वतंत्र होगा, स्वतंत्रता का प्रतीक होगा लेकिन वास्तव में वह राजनीतिक दलों के दास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वह स्वतंत्र रूप से सदन में अपने मत को व्यक्त नहीं कर सकता। दल के नियम कानून से वह बांध दिया जाता है। सदन में उपस्थित वह केवल हां या ना में गर्दन हिलाने वाला पुतला मात्र है। अधिकांश संसद सदस्य पुतला क्यों बन गए हैं। हमें सोचना होगा। इसके मूल में राजनीतिक व्यवस्था में दलीय प्रणाली का प्रादुर्भाव ही है।

निष्कर्ष—सुझाव

इस प्रकार हम वर्तमान सामाजिक संरचनाओं में व्याप्त प्रतियोगिता तथा संघर्ष को तभी निर्देशित कर पाएंगे, जब हम उनके मूलभूत कारणों को चिन्हित कर पाए। लोकतांत्रिक समाज जहां सभ्यता के विकास का परिचायक है, वही वैयक्तिक नियंत्रण से सामूहिक नियंत्रण तक और तत्पश्चात सामूहिक नियंत्रण से व्यक्ति की स्वतंत्रता तक की नियंत्रण के टूल्स के विकास का भी परिचायक है। इस विशिष्ट नियंत्रणकारी अभिकरणों के प्रादुर्भाव ने हमारे समाज में जो नए तथ्य उत्पन्न किए हैं, उनके मूल में नियंत्रण के विस्तार के साथ तात्कालिक

संरचनाओं का सामंजस्य स्थापित करने में काल विलंबना ही मुख्य कारण रहा है। हमें नियंत्रण के फैलाव के साथ विभिन्न सामाजिक संरचनाओं में नियंत्रणकारी नए-नए तकनीकों तथा संस्थाओं के, नियमों, पद्धतियों तथा प्रक्रियाओं का सामंजस्य स्थापित करने में काल विलंबना को न्यूनतम करना होगा। जैसे-जैसे ऐसे तत्वों के सामाजिक संरचनाओं के साथ आमेलन करने में हम सफल हो पाएंगे, त्वरित गति से अनुकूलन कर पाएंगे। संघर्ष तथा प्रतियोगिता के दुष्परिणाम को न्यूनतम करते हुए, समाज के सभी वर्गों तक संसाधनों की न्यूनतम छिजन के साथ अधिकतम संतुष्टि एवं विकास के साथ समृद्धि को संभव कर पाएंगे। हमें नियंत्रण के विस्तार के संदर्भ में अपने नियंत्रणकारी तकनीकों में भी समयानुकूल और त्वरित परिवर्धन, परिवर्तन के लिए तत्पर रहना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *द मैनेजमेंट प्रोसेस थ्योरी रिसर्च एंड प्रैक्टिस: जॉनबी माइनर, मैकमिलन पब्लिशिंग कंपनी न्यू यॉर्क 1973*
2. *ऑर्गनाइजेशनल साइकोलोजी: एडगरएच स्चेन इंग्लिउडविल्प्स, एन जे प्रेन्टिस हाल 1970*
3. *ह्यूमन बिहेवियर एट वर्क: कीथ डेविस और जान न्यू स्टोर्म मैकग्रा हिल न्यूयॉर्क 1989*
4. *द फंक्शनस ऑफ सोशल कनफ्लिक्ट: लेविस कोजर फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क 1956*
5. *स्ट्रक्चर एंड प्रोसेस इन मॉडर्न सोसाइटीज: टालकोट पारसंस फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क 1951*
6. *एथिनीसीटी आइडेंटिटी एंड डेवलपमेंट के एस सिंह मनोहर 1990*
7. *मैनेजमेंट थ्योरी: जे बी माइनर मैकमिलन पब्लिशिंग कंपनी, न्यूयॉर्क 1971*
8. *योजना, कुरुक्षेत्र, दैनिक जागरण।*